अंग्रेज़ों का शासन और ग्रामीण पंजाब का रूपांतरण

सनी कुमार

ग्रामीण समाज की आधुनिक अवधारणा के केंद्र में खेती और खेत के मालिकाना हक़ का सवाल रहा है। गाँव की दुनिया को इसी तरह के एक आदर्श प्रारूप का अनंत विस्तार माना गया है। पिछले वर्षों में सामाजिक विज्ञान के विद्वानों ने इस अवधारणा को एक मिथक क़रार देते हुए माना है कि ऐसे गाँव किताबों के बाहर कम ही देखने को मिलते हैं। भारत के ही विभिन्न भागों में अलग-अलग समय पर गाँवों के विभिन्न स्वरूप दिखाई पड़े हैं। लेकिन, एक आदर्श गाँव की अवधारणा से प्रभावित आधिकारिक विमर्शों में इन भिन्नताओं को एक समस्या के रूप में देखा जाता रहा है। एक ऐसी समस्या जिसका नीतिगत निवारण व्यवस्था के लक्ष्यों में शामिल हो गया। यह समझ एक सामान्य-बोध बन गयी। इसके प्रभाव में इतिहासकारों ने भी इन सवालों को अनदेखा करना शुरू कर दिया कि आख़िर आधिकारिक विमर्श में भारतीय गाँवों के इस प्रारूप का उद्‌भव कैसे हुआ और इसका ग्रामीण परिवेश पर क्या प्रभाव पड़ा। इतिहासकार नीलाद्रि भट्टाचार्य ने अपनी रचना *द ग्रेट अग्रेरियन कांक्वेस्ट : द कोलोनिअल रीशेपिंग ऑफ़ अ रूरल वर्ल्ड* में इन प्रश्नों को प्रमुखता दी है। उन्होंने औपनिवेशिक पंजाब के आधिकारिक, प्रशासनिक, क़ानूनी विमर्श से लेकर रोज़मर्रा की घटनाओं के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं धार्मिक मान्यताओं के व्यापक अध्ययन के ज़रिये ग्रामीण परिवेश की कथित असंगतियों को दूर करने और मानकीय बनाने के नाम

पर उसमें मूलभूत परिवर्तन लाने के प्रयासों की विस्तृत चर्चा की है। इसके साथ ही लेखक ने ब्रिटिश हुकूमत की इन नीतिगत हस्तक्षेपों के प्रति ग्रामीण लोगों की प्रतिक्रिया और अवांछित बदलावों को रोकने के उनके प्रयासों को भी पर्याप्त जगह दी है। इस प्रकार इतिहास की धारा के बढ़ने की इस सत्ता के साथ-साथ शासितों की परस्पर भूमिका को भी उसके समानुपात में स्थान दिया गया है।
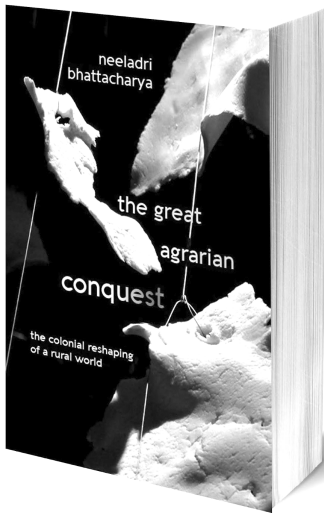
द ग्रेट अग्रेरियन कांक्वेस्ट : द कोलोनिअल रीशेपिंग ऑफ़ अ रूरल वर्ल्ड (2018)
नीलाद्रि भट्टाचार्य
पर्मानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
मूल्य : 585 रु. (पेपरबैक); पृष्ठ : 522.

लेखक ने इस किताब को मुख्यत: चार भागों में विभाजित किया है। पहले हिस्से में उन्नीसवीं सदी के पंजाब में औपनिवेशिक शासन की एक विशिष्ट क़िस्म के उद्भव और चरित्र की चर्चा की गयी है। लेखक के अनुसार यह राज्य एक तरह के 'मर्दाने पैतृकवाद' के सिद्धांत को आदर्श शासन मानता था और इसका प्रभाव औपनिवेशिक नीतियों पर साफ़ ज़ाहिर था। दूसरे भाग में पंजाब के कृषक समाज की आदर्श परिकल्पना के उद्भव का अध्ययन किया गया है। इस परिकल्पना पर आधारित नीतियों द्वारा ग्रामीण क्षेत्र को सुनियोजित एवं कृषि-प्रधान बनाने की कोशिश की गयी, और गाँवों की सीमाएँ स्थापित कर दी गयीं। इन नीतियों को लेखक ने 'अग्रेरियन कांक्वेस्ट' की संज्ञा देते हुए पशुपालक, घुमंतू समुदायों इत्यादि पर पड़े इनके बुरे प्रभावों की चर्चा की है। तीसरे खण्ड में प्रशासनिक रणनीतियों के ज़रिये गाँवों में सामाजिक संबंध और भूमि संबंधों में लाए गये बदलावों को प्रमुखता दी गयी है। जहाँ एक ओर न तो प्रशासनिक विमर्श आपसी बहसों से मुक्त था, वहीं दूसरी ओर कोई भी निर्णय ज्यों का त्यों अमल में नहीं लाया जा सकता था। ज़मीन पर भिन्न स्थितियाँ नियमों के अनुपालन में समस्या पैदा करती थीं और ग्रामीण लोग भी रीतियों और क़ानूनों की सहायता से इन नीतियों को प्रभावित करते थे। कई ग्रामनिवासी अपनी शिकायतें न्यायालयों तक भी ले गये। किताब के चौथे हिस्से में ग्रामीण कृषक परिवेश की पुन: संरचना के कुछ नाटकीय पहलुओं का विश्लेषण किया गया है। ग्रामवासियों के कई तरह के सामूहिक अथवा सामुदायिक अधिकार ख़त्म कर दिये गये और नये तरह के मालिकाना हक़ स्थापित किये गये। घुमंतू समुदायों की आवाजाही नियंत्रित की गयी और पशुचारकों को किसान बनने पर मजबूर होना पड़ा। आधुनिक व वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाम पर बड़े स्तर की खेती को तरजीह दी गयी। नये क्षेत्र खेती के दायरे में लाए गये और नहरों से सिंचाई की एक व्यापक व्यवस्था बनाई गयी। इन सारे बदलावों ने कई तरह की सामाजिक उथल-पुथल को जन्म दिया।

इन सभी अध्यायों के माध्यम से प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य उन्नीसवीं सदी के औपनिवेशिक पंजाब में ग्रामीण परिवेश के रूपांतरण में हुए दो तरह के हस्तक्षेपों का विश्लेषण करते हैं। जहाँ एक ओर नयी सत्ता के सीधे हस्तक्षेप की वजह से क़ानून और प्रशासनिक व्यवस्था, व्यक्तिगत भू-स्वामित्व और वैज्ञानिक कृषि व्यवस्था इत्यादि स्थापित करने के नाम पर आकस्मिक और नाटकीय बदलाव हुए वहीं दूसरी ओर ग्रामीण परिवेश के सामाजिक संबंध और रीति-रिवाजों में धीमे बदलाव हुए जिसमें ग्रामीण लोगों ने भी अपनी भूमिका निभायी। इस समीक्षा में इस रचना के सभी पहलुओं का व्यापक विश्लेषण करने का असम्भव प्रयास न करके मैं इसमें उठाए गये कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों की चर्चा करूँगा।

पंजाब में ब्रिटिश हुक़ूमत

पंजाब में अंग्रेज़ी शासन की कहानी तीन व्यक्तियों के राजनीतिक विचारों और उनके आपसी संबंधों और मतभेदों से जुड़ी हुई है। इनमें से दो भाई थे हेनरी और जॉन लॉरेंस, और तीसरे थे औपनिवेशिक भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौज़ी। हेनरी लॉरेंस पंजाब में नियुक्त सबसे वरिष्ठ और प्रभावशाली अधिकारी थे। वे उस दौर में प्रचलित उपयोगितावाद के सिद्धांतों के तहत केंद्रीय, मानकीकृत क़ानूनों द्वारा हुक़ूमत चलाने के बजाय क्षेत्रों में नियुक्त अंग्रेज़ी अधिकारियों के भद्र, पैतृकवादी और निरंकुश शासन की पैरवी करते रहे। उन्होंने पंजाब को पूरी तरह से ब्रिटिश हुक़ूमत में मिलाने और युद्ध के बाद सिख अभिजन से सख़्ती से पेश आने का भी विरोध किया। लेकिन, डलहौज़ी की नज़र में भारत में ऐसी क्षेत्रीय ताक़तों के लिए कोई जगह नहीं थी और वे हेनरी लॉरेंस के विचारों से हमेशा असहमत रहे। दूसरी ओर जॉन लॉरेंस भी अपने बड़े भाई द्वारा समर्थित अभिजन के ख़िलाफ़ एक कृषक-केंद्रित नीति के पक्षधर थे और निरंकुश शासन की जगह संहिताबद्ध क़ानून का समर्थन करते रहे। जो भी हो, किताबी उपयोगितावाद की जगह अंग्रेज़ अधिकारियों का अनुभव-आधारित भद्र एवं पैतृकवादी शासन ही जॉन लॉरेंस के प्रशासन की नींव बना। इसे नॉन-रेगुलेशन व्यवस्था की संज्ञा दी गयी। यह व्यवस्था तीन सिद्धांतों पर आधारित थी— (1) क़ानून की शब्दावली की जगह उसकी मूल भावना से शासन करना, (2) प्रशासनिक, कार्यकारी और न्याय-व्यवस्था जैसे सत्ता के अलग-अलग अंगों को अंग्रेज़ी परम्परा के तहत पृथक् करने के बजाय एकीकृत करना, और (3) पूरे प्रांत को छोटे-छोटे ज़िलों में बाँट कर उसका पूरा प्रशासनिक कार्यभार ज़िलाधिकारी (कलेक्टर) को सौंपना।

यह राजनीतिक दर्शन इंग्लैंड में उभरते हुए व्हिग, उदारतावादी दर्शन की प्रस्थापनाओं के विपरीत था। इसके समर्थकों का मानना था कि अंग्रेज़ी समाज में आये बदलावों को भारतीय समाज पर ठीक उसी तरह थोपने से यहाँ की सामाजिक व्यवस्था और अंग्रेज़ी हुक़ूमत का भविष्य, दोनों ही ख़तरे में पड़ जाएँगे। इन प्रशासकों का मानना था कि वर्षों की परम्परा के तहत चल रही ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था को उसके कुलीन वर्गीय बुज़ुर्गों के नेतृत्व के अंतर्गत बनाए रखना ही वहाँ शांति-व्यवस्था स्थापित करने की पहली शर्त है। उन्हें उम्मीद थी कि इस तरह यह वर्ग ब्रिटिश शासन के प्रति वफ़ादार रहते हुए आम जनता और उनके बीच एक कड़ी का काम करेगा। 1857 के विद्रोह के बाद तो अंग्रेज़ी शासन का यह रूढ़िवादी दृष्टिकोण बढ़ता ही गया जिसके परिणामस्वरूप उसके अंदर एक ख़ास तरह का विरोधाभास भी बढ़ा। जहाँ एक ओर यह रूढ़िवादी प्रशासनिक दृष्टिकोण ग्रामीण समाज को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने के बजाय उसके चरित्र में मूलभूत बदलाव लाने का कारक बना, वहीं दूसरी ओर इन सामाजिक बदलावों के बावजूद आधिकारिक विमर्श में किसानों के मालिकाना हक़ और अन्य अधिकारों को सुरक्षित रखने और उन्हें बेदख़ली से बचाने को महत्त्वपूर्ण बताया जाता रहा।

1870 के दशक तक औपनिवेशिक पंजाब में हुए सर्वेक्षण के तहत आयी भूमि के सिर्फ़ चालीस फ़ीसदी हिस्से में ही खेती की जा रही थी। यह स्थायी खेती और मेहनती किसान पर आधारित आदर्श समाज की परिकल्पना के विपरीत था। ऐसे गाँवों में आबादी की पहचान, ज़मीनों की नपाई और नियमित अंतराल पर लगान वसूल करना आसान माना जाता था। ज़मीन के एक हिस्से पर स्थायी रूप से खेती कर रहे किसान से कहीं मुश्किल था घुमंतू चरवाहों पर नियंत्रण रखना और उनसे कर लेना। इसलिए इन चरवाहों को स्थायी खेत से बँधे किसानों में परिवर्तित करना पंजाब सरकार का लक्ष्य बन गया। इस प्रक्रिया के तहत पंजाब के ग्रामीण क्षेत्र और आबादी पर फ़तह हासिल की गयी और उसमें एक मूलभूत परिवर्तन लाया गया। इसे लेखक ने 'अग्रेरियन कांक्वेस्ट' की संज्ञा दी है।

अंग्रेज़ों ने भारतीय ग्रामीण परिदृश्य पर फ़तह सिर्फ़ फ़ौजी ताक़त के दम पर ही हासिल नहीं की। उपनिवेशवाद की यह विशिष्टता थी कि वह क्षेत्र पर अपनी हुक़ूमत स्थापित करने के बाद उससे अधिकतम मुनाफ़ा और राजस्व प्राप्त करने के लिए उसका रूपांतरण भी करता था। इसके तहत कृषि–क्षेत्र के विस्तार के साथ–साथ ग्रामीण समाज और उसके सदस्यों को लगान देने वाली प्रजा में तब्दील करने के प्रयास किये जाते थे।

ग्रामीण समाज का रूपांतरण

पंजाब में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के शुरुआती दिनों से ही गाँवों की नक़्शासाज़ी के काम को पूरी बारीकी से किये जाने पर ज़ोर दिया गया। प्रशासनिक नज़रिये और ज़रूरतों के मद्देनज़र बने इन नक़्शों और दस्तावेज़ों ने न सिर्फ़ वक़्त के साथ प्राधिकृत ज्ञान का दर्जा हासिल किया, बल्कि ग्रामीण जीवन को भी उसी हिसाब से ढालने की कोशिश भी हुई। इस तरह के प्रशासनिक हस्तक्षेप के उदाहरणस्वरूप भट्टाचार्य ने डेरा इस्माइल ख़ाँ, मुल्तान और मुज़फ़्फ़रगढ़ जैसे चरवाहा बहुल क्षेत्रों में स्थायी गाँव बसाने के अंग्रेज़ी प्रयासों का उल्लेख किया है। इन चर्चाओं के माध्यम से लेखक ने अपना मुख्य तर्क पेश किया है कि अंग्रेज़ों ने भारतीय ग्रामीण परिदृश्य पर फ़तह सिर्फ़ फ़ौजी ताक़त के दम पर ही हासिल नहीं की। उपनिवेशवाद की यह विशिष्टता थी कि वह क्षेत्र पर अपनी हुक़ूमत स्थापित करने के बाद उससे अधिकतम मुनाफ़ा और राजस्व प्राप्त करने के लिए उसका रूपांतरण भी करता था। इसके तहत कृषि–क्षेत्र के विस्तार के साथ–साथ ग्रामीण समाज और उसके सदस्यों को लगान देने वाली प्रजा में तब्दील करने के प्रयास किये जाते थे।

भट्टाचार्य इस बात के प्रति सजग दिखते हैं कि आदर्श गाँव की परिकल्पना के अनुरूप रूपांतरण का यह प्रयास प्रशासकों की इच्छा के मुताबिक़ पूर्णरूपेण सफल नहीं होता था। गाँववाले अपने सजग हस्तक्षेप या अपनी संस्कृति, इतिहास और चेतना से इस प्रक्रिया को न सिर्फ़ मुश्किल बनाते रहे, बल्कि इस पर अपनी छाप भी छोड़ते रहे। गाँवों को ज़मींदारी, पट्टीदारी और भाईचारा श्रेणियों में बाँटने का प्रयास ख़ुद में इस हस्तक्षेप की एक दास्तान है। जहाँ एक ओर पंजाब के अलग–अलग क्षेत्रों में ग्रामीण समाज का स्वरूप काफ़ी भिन्न था, वहीं दूसरी ओर इन शब्दों की परिभाषा उत्तर–पश्चिम से पूर्वी पंजाब की ओर बढ़ने पर कई बार बदल जाती थी। भाईचारा एक ऐसा ही शब्द था जो उत्तर–पश्चिम प्रांत में तो रीतियों और प्रथाओं की दुनिया से संबंधित था, वहीं पंजाब में यह बाज़ार, व्यक्तिगत अधिकार और संविदा से संबंधित था। ज़मींदारी व्यवस्था की धारणा भी एक दिलचस्प उदाहरण है। औपनिवेशिक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए यह शब्द बंगाल में ज़मीनों पर ग्रामीण अभिजात वर्ग के व्यक्तिगत मालिकाना हक़ स्थापित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है, लेकिन पंजाब में प्रशासकों ने इसी शब्द का इस्तेमाल एक जनजातीय, संयुक्त प्राधिकार वाली ज़मीनों को दर्शाने के लिए किया। आगे चल कर इसकी पेचीदगी और बढ़ गयी जब इन संयुक्त प्राधिकार वाली ज़मीनों से लगान इकट्ठा करने का अधिकार व्यक्तिगत कर दिया गया। जहाँ एक ओर ज़मींदारी संयुक्त प्राधिकार का परिचायक था वहीं पट्टीदारी एक ही ज़मीन पर कई हिस्सेदारों के अलग–अलग हक़ को दर्शाता था। एक तरह से ये तीनों संकल्पनाएँ अंग्रेज़ों के बीच व्याप्त निश्चयात्मकता और प्रगतिवाद से लैस थीं और उनकी नज़र में अलग–अलग समय में स्थित समकालीन पंजाबी गाँवों को दर्शाती थीं। संयुक्त प्राधिकार की प्रतीक ज़मींदारी व्यवस्था सबसे प्राचीन मानी जाती थी। यह माना जाता था कि पट्टीदारी उसी से विकसित हुई व्यवस्था है। भाईचारा, जो सुनने में संयुक्तता को दर्शाता मालूम होता है, असल में व्यक्तिगत मालिकाना हक़ का सबसे उन्नत रूप माना जाता था।

औपनिवेशिक राज्य की प्रशासकीय प्रवृत्ति अनवरत श्रेणीकरण पर आधारित थी, लेकिन ज़मींदारी

प्रचलित रीतियों के नाम पर लागू किये जा रहे क़ानूनों के ख़िलाफ़ छोटे किसानों, काश्तकारों इत्यादि ने लगातार आवाज़ उठायी। ... 1868 के टेनेंसी एक्ट ने ऐसी ज़मीनों पर लम्बरदार वर्ग को मालिकाना हक़ दे दिया। इस क़ानून के बाद हज़ारों की संख्या में काश्तकारों को कृषि भूमि से बेदख़ल किया जाने लगा। इस पूरी परिघटना से उभरी व्यथा और हैरानी का ज़िक्र पंजाब के एक ग्रामीण, लालू की कविता में बख़ूबी मिलता है जिसके बारे में नीलाद्रि भट्टाचार्य ने विस्तार से चर्चा की है।

और पट्टीदारी के ये सिद्धांत ज़मीन पर उसी रूप में मुश्किल से मिलते थे। इसके बावजूद श्रेणीकरण की इस प्रशासकीय प्रक्रिया ने भूमि-संबंधों को इन तीन श्रेणियों में बाँटने का काम किया। क्षेत्रों और गाँवों के भीतर की विविधताओं को पूरी तरह नज़रअंदाज़ किया गया और कई जगहों पर वर्षों से चली आ रही प्रथाएँ और उस पर आधारित अधिकार बदल दिये गये। साथ ही नये क़िस्म के प्राधिकार स्थापित भी हुए। ग्रामीण जीवन में स्थायित्व बनाए रखने के नाम पर अपनाई गयी इन नीतियों ने वहाँ उथल-पुथल मचाने का काम किया। कृषि भूमि, उसके मालिकाना हक़ और वरिष्ठ ग्रामीण के नेतृत्व वाली सक्रिय ग्राम समुदाय की किताबी परिकल्पना पर आधारित ग्रामों को इन नीतियों के द्वारा सिर्फ़ चिह्नित ही नहीं किया गया, बल्कि नये सिरे से बसाया भी गया। इस तरह एक ग़ैर-कृषि बहुल क्षेत्र का सत्ता के ज़ोर पर कायापलट हो गया। कृषि और उस पर आधारित अधिकारों को स्थापित करने के कारण सामाजिक सत्ता के धरातल पर नवीन संरचनाओं का जन्म हुआ जो अभूतपूर्व रूप से पैतृकवाद और रक्त-संबंध आधारित बिरादरी तक सीमित थीं। इस दायरे से बाहर रहने वाले समाज के कई हिस्सों के प्रथागत अधिकार नकार दिये गये। इनमें पिछड़ी जातियाँ, घुमंतू चरवाहे और स्त्रियाँ शामिल थीं।

राजस्व-व्यवस्था को सुनियोजित करना और उसकी निरंतरता सुनिश्चित करना प्रशासनिक अधिकारियों की रुचि के केंद्र में था। इसके लिए महत्त्वपूर्ण था कि जहाँ तक सम्भव हो कृषि से जुड़ी आबादी को मालिकों और काश्तकार में विभाजित किया जाए। जहाँ एक ओर ऐसा वर्गीकरण कर-प्रणाली को व्यवस्थित करने के लिए ज़रूरी था, वहीं दूसरी ओर अधिकारियों को इस बात का अनुमान था कि न सिर्फ़ ग्रामीण क्षेत्र का बड़ा हिस्सा नियमित खेती से वंचित था बल्कि कृषि क्षेत्र में ऐसा विभाजन आसान नहीं था। इस प्रक्रिया के दौरान एक और विरोधाभास उत्पन्न हुआ। नये इलाक़ों में कृषि का विस्तार पूरे समुदाय, ख़ासकर मेहनतकश वर्ग की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका की माँग करता था, लेकिन उन जगहों पर पुरानी सामाजिक व्यवस्था का आधिपत्य स्थापित करना उस भूमिका के महत्त्व को नकारने पर आधारित था। उन सूखे क्षेत्रों में झाड़ियों की सफ़ाई, कुओं और नहरों की खुदाई, नदियों और धारों का उपयोग इत्यादि के लिए लगाए गये श्रमिकों ने उन कृषि-भूमियों पर अपने हक़ का दावा किया। ये दावे भले ही औपनिवेशिक राज्य के अनुसार सही नहीं थे, लेकिन ग्रामीण समाज में यह आम समझ थी और रीति-रिवाजों में इसकी बुनियाद थी। अधिकारियों ने प्रशासन की सुविधा के हिसाब से एक सरलीकृत समझ बना ली थी। उनके अनुसार अगर कोई व्यक्ति भाईचारा का हिस्सा नहीं है तो उसे काश्तकार या जोतदार ही माना जाएगा। इस प्रकार पिछड़ी मेहनतकश जातियों और स्त्रियों की दोतरफ़ा बेदख़ली की गयी। पहले उन्हें पितृसत्तात्मक, रक्त-संबंध आधारित भाईचारा से बेदख़ल किया गया, जो ग्राम समुदाय में निर्णायक भूमिका में था। साथ ही उन्हें खेतों पर किसी भी प्रकार के अधिकार अथवा दावे से वंचित कर दिया गया। कई गाँवों में पुश्तों से चली आ रही खेतिहर आबादी का बहुजातीय होना एक बड़ी समस्या बन कर उभरा। इस समस्या के समाधान के रूप में भू-

> पंजाब में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के शुरुआती दिनों से ही गाँवों की नक़्शासाज़ी के काम को पूरी बारीकी से किये जाने पर ज़ोर दिया गया। प्रशासनिक नज़रिये और ज़रूरतों के मद्देनज़र बने इन नक़्शों और दस्तावेज़ों ने न सिर्फ़ वक़्त के साथ प्राधिकृत ज्ञान का दर्जा हासिल किया, बल्कि ग्रामीण जीवन को भी उसी हिसाब से ढालने की कोशिश भी हुई।

स्वामी वर्ग को दो श्रेणियों— आला मालिक और अदना मालिक — में विभाजित किया गया। ठीक उसी प्रकार जोतदार वर्ग को भी मौरूसी और ग़ैर-मौरूसी हिस्सों में बाँटा गया। 1887 के टेनेंसी एक्ट के बाद अधल्पी, बूटीमार, लठमार, मुँडेमार, मुक़र्ररीदार इत्यादि को ऑक्यूपेंसी टेनेंट या दख़लकारी काश्तकार की एक तीसरी श्रेणी में रखा गया। इस तरह पुश्तों से खेतों को जोत रहे कृषक वर्ग के एक बड़े हिस्से को दस्तावेज़ों में जगह तो दी गयी, लेकिन पुराने रीति-रिवाजों द्वारा सुरक्षित कई अधिकार छीन लिए गये और सहदायिकी समुदाय की सामाजिक सत्ता को अभूतपूर्व बल प्रदान किया गया।

सम्पत्ति, अधिकार और औपनिवेशिक विमर्श

भारत में भू-स्वामित्व का सिद्धांत क्या था? कृषि-भूमि को लेकर किस तरह की रीतियों और परम्पराओं को विश्वसनीय माना जाना चाहिए? यह सवाल भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही प्रशासकों के बीच तीखी बहस का मुद्दा बन गया जिसका अध्ययन एरिक स्टोक्स और रणजीत गुहा से लेकर बर्टनस्टीन तक ने विस्तार से किया है। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में प्राच्यवादी दृष्टिकोण के उदय ने धार्मिक एवं अन्य प्राचीन ग्रंथों को विश्वसनीय स्रोत मान कर उनके अध्ययन पर ज़ोर दिया। लेकिन जल्दी ही प्रशासकों के बीच व्हिग उदारतावाद एवं उपयोगितावाद के विचारों का प्रभाव बढ़ा और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में सरकारी नीतियों पर उसका असर साफ़ दिखने लगा। इन बहसों पर अठारहवीं सदी के दो दिग्गज ब्रिटिश विधिशास्त्री विलियम ब्लैकस्टोन और जेरेमी बेंथम की छाप साफ़ तौर पर देखने को मिलती है। ये बहसें पंजाब में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद एक बार फिर तेज़ हो गयीं। उनमें से एक पक्ष के सबसे मुखर प्रस्तावक थे हेनरी थोबी प्रिंसेप।

प्रिंसेप का यह मानना था कि अंग्रेज़ी शासन से पहले भारत में काश्तकारों का ज़मीनों पर कोई अधिकार नहीं माना जाता था और उन्हें बेदख़ल करने का भू-स्वामी का अधिकार सर्वमान्य था। इस मत के कई विरोधी थे जिनका मानना था कि कितने ही पुराने दस्तावेज़ और रिवाज इस बात की पुष्टि करते हैं कि काश्तकारों का जोती जा रही भूमि पर अधिकार होता था। प्रिंसेप इस बात से सहमत थे कि काश्तकारों द्वारा पीढ़ियों से एक ही भूमि को जोतने और उससे बेदख़ल न होने की प्रथा देखी जा सकती है। लेकिन इस प्रथा को काश्तकारों से न छीना जा सकने वाला अधिकार समझ लेना उनकी नज़र में अनुचित था। भले ही प्रिंसेप प्रचलित रिवाजों और प्रथाओं की जानकारी इकट्ठा करने में रुचि रखते थे लेकिन रिवाजों को अधिकारों का जायज़ स्रोत मानना उनके अनुसार ग़लत था। इस तरह की सोच बेंथम के विचारों, ख़ासकर उनके द्वारा की गयी ब्लैकस्टोन के दृष्टिकोण की आलोचना, की एक ख़ास विवेचना थी। इसके अनुसार रीति-रिवाजों, जिसे अंग्रेज़ी परिवेश में कॉमन लॉ भी कहते हैं, पर आधारित क़ानून अवैज्ञानिक और निष्प्रभावी होता है।

बेंथम की इस तरह की व्याख्या मैकॉले के दौर में ज़्यादा प्रचलित थी, लेकिन अगली पीढ़ी के विधिशास्त्रियों और प्रशासकों ने अपने दौर की चुनौतियों के अनुसार बेंथम के सिद्धांतों की थोड़ी अलग व्याख्या की। इसके सबसे प्रखर प्रस्तावकों में जेम्स फ़िट्जेम्स स्टीफ़न शामिल थे जिनका मानना

था बेंथम की सबसे बड़ी सीख थी क़ानून का संहिताकरण। संहिता अंग्रेज़ी सिद्धांतों पर आधारित हो ऐसा ज़रूरी नहीं है, बल्कि उसका मुख्य लक्ष्य शासन को स्थिर और न्यायिक बनाना होना चाहिए। क़ानून के स्रोत प्रचलित प्रथाएँ और रिवाज भी हो सकते हैं, जिन्हें संहिताबद्ध करके स्थायी और सुस्पष्ट करना महत्त्वपूर्ण है। जॉन लॉरेंस भी इन सिद्धांतों के समर्थक थे और उनका मानना था कि प्रशासनिक जाँच का मुद्दा यह नहीं है कि भूस्वामी के पास बेदख़ली का अधिकार था या नहीं बल्कि यह कि वह बेदख़ली किया करता था या नहीं। संहिता में प्रचलित रिवाजों को तरजीह देने के इस दृष्टिकोण में ब्लैकस्टोन और बेंथम के सिद्धांतों का समन्वय देखने को मिलता है। लॉरेंस द्वारा काश्तकारों के हितों की रक्षा करना थॉमस मुनरो जैसे बेंथम-समर्थक उपयोगितावादी प्रशासक के नज़रिये से भी प्रभावित था जिसका प्रभाव पश्चिमी भारत में स्थापित रैयतवारी व्यवस्था पर काफ़ी गहरा था।

यह दिलचस्प है कि अधिकारियों का रिवाजों पर ज़ोर देना उपयोगितावाद के साथ उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी अकादमिक जगत में लोक-संस्कृति के प्रति बढ़ते आकर्षण से प्रभावित था जिसे रोमांटिसिज़्म भी कहा गया। इस विचार के तहत असभ्य, प्राकृतिक, प्राचीन और पुरातन समाज और संस्थाओं को सरल और उत्कृष्ट माना जाता था जिसे तत्कालीन पश्चिमी विचारकों ने नकारने की ग़लती की थी। इससे पहले अठारहवीं सदी के प्राच्यवादियों ने पूर्वी प्राचीन सभ्यताओं के ज्ञान को अध्ययन योग्य माना था, लेकिन इन दोनों दृष्टिकोणों में फ़र्क़ था। इसे समझने के लिए 1776 में नैथेनियल ब्रैसी हालहेड द्वारा प्रकाशित *अ कोड ऑफ़ जेंतु लॉज़* की तुलना 1881 में चार्ल्स लेविस टप्पर द्वारा प्रकाशित *पंजाब कस्टमरी लॉ* से की जा सकती है। हालहेड की किताब उस दौर के प्राच्यवाद की एक उत्कृष्ट कृति थी और उस विधा की अन्य कृतियों की तरह प्राचीन शास्त्रों को ज्ञान का मुख्य स्रोत मानती थी। लेकिन टप्पर के दौर के प्रशासक शास्त्रीय ज्ञान को अनुत्पादक और कुटिल ब्राह्मण वर्ग द्वारा ग्रामीण समाज में अपनी सत्ता को स्थापित करने का ज़रिया मानते थे जिसका न तो गाँवों में पालन हो रहे क़ानूनों से कोई सीधा संबंध था और न ही उसमें आम कृषकों के हित सुरक्षित थे। इन वजहों से इन प्रशासकों ने प्रचलित रिवाजों और प्रथाओं को ही ग्रामीण जीवन के ज्ञान का सही स्रोत माना और उसे सूत्रबद्ध करने के प्रयास किये। लेकिन प्राच्यवादी ज्ञान के संग्रहण का यह प्रयास भी उसी राह पर चल पड़ा जब ब्राह्मण पण्डितों से दूर रहने के सचेत प्रयास ने विश्वसनीय रिवाज की खोज ने उन अधिकारियों को रक्त-संबंध पर आधारित समुदाय के बुज़ुर्गों पर निर्भर बना दिया। सौ साल पुरानी बंगाल की कहानी एक बार फिर दुहराई गयी जहाँ प्राच्यवादी अधिकारियों और विद्वानों ने औपनिवेशिक समाज के पुरातन ज्ञान की खोज और उसका संकलन ही नहीं किया, बल्कि उसके एक ख़ास स्वरूप का निर्माण किया जिससे ग्रामीण अभिजन को काफ़ी फ़ायदा मिला। यह बात को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि पंजाब और उत्तरी भारत के अन्य क्षेत्रों में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पूर्वी भारत की तरह स्थापित नहीं थी। वहाँ के ग्रामीण समाज में ब्राह्मणों की आबादी और उनका आधिपत्य कमज़ोर था जिसकी वजह से अंग्रेज़ों की नज़र में उनके सहयोग की अहमियत नहीं थी। उनकी जगह पंजाबी ग्रामीण समाज में मज़बूत पकड़ रखने वाले वर्ग की तलाश ही उन्हें सहदायिकी समुदाय के बुज़ुर्गों तक ले गयी।

प्रचलित रिवाजों को क़ानून का मुख्य स्रोत बनाने की सूरत में प्रश्न यह उठता है कि क्या संहिताबद्ध होने के बाद रिवाज अपना मूल चरित्र बरक़रार रख पा रहे थे? पंजाब के कई प्रशासकों का तर्क यह था कि वे मैकॉले की तरह अंग्रेज़ी सिद्धांतों पर आधारित क़ानून का निर्माण नहीं करना चाहते, बल्कि संहिता में सिर्फ़ प्रचलित क़ानून को संकलित और सुस्पष्ट करना चाहते थे। लेकिन ये प्रशासक इस बात को भी नज़रअंदाज़ कर रहे थे कि रीतियों का चरित्र क्षेत्रीय होता है और उनका निर्माण केंद्रीय सत्ता के हस्तक्षेप से नहीं होता। साथ ही रीतियाँ और प्रथाएँ स्थिर न रह कर समय और दूरी के साथ बदलती रहती हैं। रीतियों को केंद्रीय सत्ता द्वारा संहिताबद्ध करना उसके मूल चरित्र के

ख़िलाफ़ था और यह प्रयास पूरी तरह निष्पक्ष और वस्तुगत न होने के लिए अभिशप्त था। सत्ता के किसी भी अभियान की तरह इसमें भी सत्ता चला रहे लोगों के हित और उनके दृष्टिकोण हावी रहे। पंजाब के ग्रामीण अभिजात वर्ग को ब्रिटिश हुक़ूमत के प्रति वफ़ादार बनाए रखना प्रशासकों के लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण था और यह इत्तेफ़ाक नहीं था कि राज्य द्वारा प्रमाणित रीतियाँ उस वर्ग के प्रति काफ़ी लाभदायक थीं।

प्रचलित रीतियों के नाम पर लागू किये जा रहे क़ानूनों के ख़िलाफ़ छोटे किसानों, काश्तकारों इत्यादि ने लगातार आवाज़ उठायी। अपनी किताब में नीलाद्रि भट्टाचार्य ने ऐसे कई उदाहरणों की चर्चा भी की है। यह बात आम थी कि ग़ैर–कृषि भूमि को अपने श्रम से कृषि योग्य बनाने वाले किसानों के भी उस भूमि पर अधिकार होते हैं, लेकिन 1868 के टेनेंसी एक्ट ने ऐसी ज़मीनों पर लम्बरदार वर्ग को मालिकाना हक़ दे दिया। इस क़ानून के बाद हज़ारों की संख्या में काश्तकारों को कृषि भूमि से बेदख़ल किया जाने लगा। इस पूरी परिघटना से उभरी व्यथा और हैरानी का ज़िक्र पंजाब के एक ग्रामीण, लालू की कविता में बख़ूबी मिलता है जिसके बारे में भट्टाचार्य ने विस्तार से चर्चा की है। इन उदाहरणों से यह ज़ाहिर होता है कि सरकार ने उन अधिकारों को व्यक्तिगत बना दिया जो समाज की नज़र में सामूहिक थे और इस प्रक्रिया में पूरा लाभ अभिजात वर्ग और नुक़सान मेहनतकश वर्ग को हुआ। कहीं न कहीं इस प्रक्रिया का सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैंड के कृषि परिवेश में आये उन बदलावों से तुलना भी की जा सकती है जिन्हें इनक्लोज़र मूवमेंट भी कहते हैं। इससे हमारा आशय यह है कि ग्रामीण कृषि परिवेश में इस तरह के बदलाव, जिसे भट्टाचार्य ने अग्रेरियन कांक्वेस्ट की संज्ञा दी है, आधुनिक राज्य और अर्थव्यवस्था की स्थापना के केंद्र में हैं।

एक और जटिल पक्ष यह था कि ब्रिटिश सरकार इस बात को लेकर पूरी तरह साफ़ थी कि उन्हें पंजाब के ग्रामीण समाज में किसी तरह का तनाव नहीं चाहिए और उन्हें लगा कि स्थानीय रीतियों के अनुसार शासन करना यह सुनिश्चित करेगा। लेकिन 1880 के दशक तक अधिकारीगण इन नीतियों से उभरे सामाजिक संकट के बारे में चिंता ज़ाहिर करने लगे थे। इसी के परिणामस्वरूप सरकार 1900 में नये क़ानून लाई, जिसने कथित रूप से ग़ैर–कृषक जातियों को कृषि भूमि ख़रीदने से प्रतिबंधित कर दिया। इस क़ानून ने अन्य तरह की समस्याएँ पैदा कर दीं जिसकी विस्तृत चर्चा इस लेख में सम्भव नहीं है।